

हिन्दी नाटक की अभिनय तथा रंगमंचीय परम्परा

डॉ० गार्गी सिंह*

अभिनय के तात्पर्य

‘अभिनय’ नाट्य-प्रदर्शन का मूलभूत तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व होता है नाट्य प्रयोग अभिनय के द्वारा ही सिद्ध होता है। अभिनय के अन्तर्गत समस्त नाट्यकर्म समाहित हो जाता है। इसी के द्वारा ‘काव्य’-‘नाट्य’ बनता है। अभिनय में ही नाटक के प्राण रस का उन्मेष होता है। अभिनय के द्वारा ही नट-नटी, विभाव, अनुभाव और संचारियों द्वारा रस-निष्पत्ति में सहायक बनाते हैं। ‘णी’ धातु में ‘अभि’ उपसर्ग लगाने से ‘अभिनय’ शब्द बनता है। अभिनय से तात्पर्य है- नाट्य प्रयोग के द्वारा मुख्यार्थ को सामाजिक के हृदय तक पहुँचाना और विभावन कराना अर्थात् रसास्वाद कराना।

अभिनय नाट्य-कृति को रूपायित करता है अतः वही नाटक का वाहक होता है इसी कारण अभिनय करना एक सृजनशील स्थिति होती है। नाटक के संवादों को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के साथ ही अभिनेता नाटककार की मूलभूत अनुभूति को उसकी व्यक्त-अव्यक्त संभावनाओं के साथ उद्घाटित करता है नाट्य भ्रांति अभिनय द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। ‘अच्छे अभिनय की पहचान ही यह है कि दर्शक उसके निसृत विभिन्न रसों के अर्णव में आमूल-चूल डूब जाये।’¹

नाटककार, निर्देशक, रंगशिल्पी सभी का प्रयास अंततः अभिनेता के सर्जनकार्य को सक्षम, प्राणवान और प्रभावपूर्ण बनाने का होता है। अभिनय कला द्वारा ही रंगकला एक प्रभावात्मक एवं पूर्णकला बनाती है। निर्देशक, सज्जाकार, संगीत वाद्य व्यवस्थापक, प्रकाश व्यवस्थापक आदि चाहे, कितने भी योग्य, प्रतिभावान एवं कुशल क्यों न हो जब तक कुशल मेधावी एवं कल्पनाशील अभिनेता उनकी कला की सहायता से वाणी एवं शरीर-चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर नाटक को मूर्त नहीं करेंगे, तब तक कोई सार्थक, सर्जनात्मक नाट्य-सृष्टि सुलभ नहीं। पूर्ण रूपेण अभिनेता की प्रक्रिया में रचित नाटक भी तभी सफल प्रस्तुति पाता है

हिन्दी प्रवक्ता, फेरुपुर डिग्री कॉलेज, फेरुपुर, हरिद्वार

जब अभिनेता पूरी लगन एवं शक्ति के साथ प्रदर्शन में योग देता है। इसीलिए आद्याचार्यों ने अभिनेता के छः गुण बताये हैं- मेधा, स्मृति, गुण श्लाघा, राग, संघर्ष और उत्साह। इसके साथ ही अभिनेता-अभिनेत्रियों के शारीरिक गुणों की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। वाणी और व्यवहार अभिनय के साधन होते हैं। नाट्य-संवादों के पीछे छिपी अन्तर्गत भावनाओं, उद्देश्यों, विचारों, अनुकृत पात्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिनय द्वारा उद्घाटित करना अभिनय का धर्म है।²

नाटककार की कृति का प्रदर्शन अभिनय के द्वारा होता है। जो उसका आधार होता है। रस की भावानुभूति तो रचना के अभिनय की साधारणीकरण की भावना से ही सबन्धित है। अतः अभिनय, नाट्य और रस तीनों प्रयोग की दृष्टि से एक ही सूत्र में पिरोये हुए हैं।

अभिनय का वर्गीकरण

भरतमुनि ने अभिनय का वर्गीकरण प्रमुख रूप से चार वर्गों में किया है- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

आंगिक

इसके अन्तर्गत मुख, हस्त, नेत्र, सिर, कटि, वक्ष, पार्श्व, चरण आदि का अभिनय आता है। सिर के तेरह, दृष्टि के दत्तीस, आँखों के तारों के नौ, भौहों के सात, नाक के छः, कपोल के छः, अधर के छः और टोड़ी के आठ अभिनय बताए गए हैं। हस्ताभिनय की भी अनेक मुद्राएँ हैं। उदाहरण- ‘पताका’, ‘अद्धचंद्र’, ‘शंख’, ‘चक्र’ आदि। भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों के अभिव्यक्ति करने के लिए ‘पताका’ ‘त्रिपताका’ या अन्य किसी प्रकार की हस्त मुद्राओं के साथ शरीर के शेष अंगों के भी भिन्न आसन और स्थितियाँ होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भूमिचारियों तथा सोलह आकाशचारियों का वर्णन है। दस आकाश मण्डल और दस भौममण्डल के अभिनयों का वर्णन है तथा यह भी बताया गया है कि कौन सी भूमिका में किस प्रकार मंच पर चलना चाहिए। विभिन्न अंगों, की मुद्राओं के मूल से करण, अंगहार और रोचक बनते हैं।

वाचिक अभिनय

शब्द उच्चारण, वार्तालाप के ढंग, स्वरताल आदि के द्वारा अनुकरण वाचिक अभिनय कहलाता है। यही अभिनय नाट्य का प्रधान अभिनय है। मनोभावों की अभिव्यक्ति तो सात्विकादि अभिनयों के द्वाराही प्राप्त हो सकती है। अतः भरतमुनि ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्द, छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण-दोष, भाषा एवं पाठ्य-शैली का तात्त्विक निरूपण किया है।

आहार्य अभिनय

यह मुख्यतः वेशभूषा, श्रृंगार, रूप सज्जा आदि नेपथ्य विधियों से सम्बन्धित है। पात्र-सज्जा के लिए विविध प्रकार की सामग्री का उल्लेख है। पात्रों के वय के अनुरूप तथा प्रकृतिगत केश-विन्यास, अलंकार, परिधान, अंग राग, अंगरचना तथा रंगमंच पर निर्जीव लौकिक पदार्थों और सजीव जन्तुओं के नाट्य-दर्मी प्रयोग को भरत ने 'आहार्य अभिनय' ही माना है। आहार्य अभिनय की सामग्री दो प्रकार की होती है- यथार्थवादी और प्रतीकात्मक। रथों, गडियों और पर्वतों के सांकेतिक नमूने खाल और कपड़े से बनाये जाते हैं।

सात्विक अभिनय

अन्य सब प्रकार के अभिनयों के सम्पन्न होने पर भी सात्विक अभिनय के योग से ही अनुकार्य के साधारणीकृत मनोभावों का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, अश्रु, स्वरभंग, कंप, विवर्णता, मूर्च्छा द्वारा विभिन्न मनोभाव व्यक्त होते हैं।^{१३}

उपर्युक्त चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन अभिनय कला को और अधिक विकसित करता है।

पश्चिमी अभिनय का आरम्भ धार्मिक नृत्यों से हुआ था। बाद में यूनानी नाट्यकला के विकास के साथ अभिनय कला भी विकसित हुई, जिसमें वाचिक तथा आहार्य अभिनय का ही प्राधान्य था, क्योंकि मुखौटे के प्रयोग के कारण भावाभिनय तो संभव ही न था। वक्तव्य कला का अभिनय के क्षेत्र में काफी बोलबाला रहा। इटली निवासियों ने धार्मिक और राजनैतिक संघर्ष के युग में भी कला प्रेम के कारण अभिनय कला को जीवित रखा। पर अब इस कला में कृत्रिमता बढ़ने लगी थी।

सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में अभिनय कला ने महत्वपूर्ण विकास किया। शेक्सपियर के समय में व्यावसायिक अभिनेता-मण्डलियाँ हुआ करती थी। स्वयं शेक्सपियर का इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। नाट्य लेखक तथा अभिनेता दोनों ही होने के कारण उन्होंने अपने नाटकों को अभिनय एवं रंगकला की दृष्टि से एक विशेष अन्विति दी, जिसके कारण उनके नाटकों का विशिष्ट रूपात्मक गठन अपने ढंग के विशेष रंगमंच की अपेक्षा रखता है।

बीसवीं शताब्दी में योरोप में अनेक नाट्य-विद्यालयों, संस्थाओं तथा प्रेक्षाग्रहों में अभिनय-सम्बन्धी अनेक प्रयोग हुए तथा सिद्धान्त बनाए गए। प्रकृतवादी नाट्य पद्धति का प्रचलन मैक्स रीनहार्ट ने जर्मनी, आदेआन्त्वां ने फ्रांस में तथा स्तानि स्लावस्की ने मास्को में किया। स्तानिस्लावस्की अभिनय की वैज्ञानिक पद्धति खोजने के लिए मनोविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति खोजने के लिए मनोविज्ञान की

ओर झुके। रेसीन भी संवादों में जीवनगत वास्तविकता लाने के पक्ष में थे। इसके विरुद्ध रीतिवादी अभिनय पद्धति मेयर होल्ड, तायरीफ तथा इरविन पिकास्टर के नेतृत्व में चलाई गई। यह लोग अभिनय में उछल कूद, नट-विद्या और लयगति का इतना प्रचार करने लगे कि अभिनेताओं की गति पूर्णतया यंत्रात्मक हो गई।

लयवादी अभिनय पद्धति में संतुलित व्यायामपूर्ण पद्धतियों द्वारा यंत्रात्मक अभिनय किया जाता है। आजकल योरोप में चीन, जापान एवं भारतीय पद्धतियों की भाँति प्रतीकवादी अभिनयकर्ताओं को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

योरोपीय अभिनय प्रणाली के पाँच अंग हैं-

1. मुख अभिनय (Gefure)
2. शारीरिक भंगिमा (Posture)
3. गति (Speed)
4. वेग (Velocity)
5. वाणी (Speech)

भारतीय अभिनय-पद्धति की भाँति योरोप में विभिन्न शारीरिक मुद्राओं की अभिनय रीति का नियमन नहीं हुआ। वहाँ नियम व्यवस्था केवल नृत्य के लिए थी। नाट्याभिनय के लिए वहाँ स्वयं लोक ही आर्दशहै।

अभिनय के दो प्रकार माने गए हैं- सक्रिय (Active) और मौन (Passive)। रंगमंच पर उपस्थित कई व्यक्तियों में से सभी सक्रिय अभिनय नहीं करते। कुछ बोलते हैं, कुछ सुनते हैं, प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इसी को Corresponding Action और Reactive Action कहा जा सकता है।¹⁴

पं० सीताराम चतुर्वेदी ने भारतीय तथा पाश्चात्य अभिनय प्रणाली का विश्लेषण करते हुए कुछ अभिनय के प्रकार निर्धारित किए हैं-

1. अनुकरणात्मक (Imitative)
2. व्यक्ति परक (Indivisualiztic)
3. भाषाणत्मक (Rhetorical)
4. तथ्यवादी (Reralistic)
5. युगगत (Epochae)
6. उदात्तवादी (Classical)
7. अभिव्यंजनवादी (Expressionistic)

8. प्रभाववादी (Impressionistic)
9. कल्पनावादी (Fantastic)
10. भडैतीपूर्ण (Farcical)
11. प्रहसनात्मक (Burlesque)

इसके अतिरिक्त मूक अभिनय भी अभिनय का एक प्रकार है जबकि नेपथ्य से पाठ और संवाद चलता है, तथा अभिनेता उसके अनुरूप, शारीरिक चेष्टाएँ तथा भंगिमाएँ करता है। इसके साथ ही रंगमंच पर निष्क्रियता का भी अपना विशेष महत्व है जबकि बिना बोले और हिले-डुले पात्र दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करे और मंच पर उपस्थित दृश्य का अविच्छिन्न अंग प्रतीत हो।

अभिनय कला को अधिकांश विद्वान देव-प्रदत्त एवं वंशानुगत मानते हैं। परन्तु प्रशिक्षण भी इस क्षेत्र में लाभप्रद होता है। आदिकाल से ही योग्य निर्देशक का प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। इसी कारण नाटक का पुनः पुनः पूर्वाभ्यास अपेक्षित होता है। पाठ को कंठस्थ करना, अपनी आवाज तथा देह को अभिनयानुकूल बनाये रखना आदि अभिनेता के कर्तव्य है। पूर्वाभ्यास से अभिनय शैली विकसित होती है तथा अभिनेताओं की कला परिष्कृत होती है।

आधुनिक भारतीय नाटक के प्रसिद्ध रंगकर्मी शुभमित्र तो मूल नाट्य-वस्तु को अभिनय में ही निहित मानते हैं— 'इस तरह बहुत सी पद्धतियों के इतिहास को पार करने के बाद आज यह बात स्पष्ट है कि नाट्यकला का मूल केन्द्र है अभिनय की मजलिस और अभिनेताओं को भावावेग उनका 'पेशन'। नाटक पाठ्य रूप में लोगों से आदर और श्रद्धा पायेगा, पर वह नाट्य नहीं है। नाट्य तब होगा जब अभिनय की मजलिस में फिर नए सिरे से उस नाटक की सृष्टि की जायेगी।⁶

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक की स्थिति में सुधार आया तथा लेखक एवं निर्देशक हिन्दी रंगमंच पर नाट्याभिनय की सशक्त धारा को चलाने के प्रयास में लगे। अभिनय को हेय तथा असम्माननीय मानने की पुरानी दकियानूसी दृष्टि का परिष्कार हुआ। कुशल अभिनेता-अभिनेत्री अपने पूर्ण सहयोग के लिए तैयार हुए। यद्यपि अभिनेताओं में लगन, परिश्रम एवं अभ्यास की अभी भी अधिकाधिक आवश्यक है ताकि एक-एक नाटक के चार-छः अथवा दस-बारह प्रदर्शनों की अपेक्षा उसे पुनः पुनः प्रदर्शन का मंजा हुआ अनुभव एवं जीवन्त समालोचना प्राप्त हो सके।

आज अभिनय की प्रचलित पद्धतियों एवं प्रविधियों में युगानुकूल की मांग बढ़ रही है। लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आ गई तथा उसमें नवीन स्थितियों की खोज प्रक्रिया जारी है। 'रूढ़ि' बन गई पद्धतियों तथा पुराने 'मिथको' को तोड़कर आज का प्रयोगशील रंगकर्मी नवीन से

नवीन दृष्टि की तलाश में है। आज विभिन्न नाट्य-विद्यालयों द्वारा विविध अभिनय कला की तकनीकी शिक्षा विद्यार्थीगण प्राप्त करते हैं। देश-विदेश की अभिनय-पद्धतियों के निरीक्षण-परीक्षण के उपरान्त नाटकोपयुक्त अभिनय का प्रयास किया जाता है क्योंकि नवीन जीवन-मूल्यों के साथ ही इस क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार हुआ है। ऐसे समय में नाट्य-सृजन कार्य भी अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। नाट्य-सर्जक को परम्परा का ज्ञान तथा आधुनिक दृष्टि दोनों क्षेत्रों के बीच की धार पर चलना पड़ रहा है।

'अभिनय' कला और विज्ञान दोनों ही हैं। दोनों के समानुपातिक योग से ही 'प्रयोग-विज्ञान' का रूप निखरता है। बदलते हुए अभिनयात्मक मानदण्डों ने रंगमंच का रूप ही कुछ और बना दिया है। रूढ़ियों से स्वतंत्र होकर आज का रंगमंच विश्वभर की पद्धतियों से वांछित तत्त्व लेकर अपने रूप का निर्धारण कर रहा है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने भी अभिनय की दिशाओं तथा सम्भावनाओं के नवीन क्षितिज प्रदान किए हैं। प्रतीक प्रधान अभिनय-पद्धति के अधुनातन प्रयोगों ने आंतरिक भावों तथा घटनाओं के सूक्ष्म अंशों को उद्घाटित करने की बड़ी प्रभावशाली टैकनीक को विकसित किया है।⁶

प्राचीन भारतीय रंग-परम्परा

संस्कृत रंगमंच

भारतीय रंगमंच की परम्परा अति प्राचीन है। महाकाव्य की भाँति नाट्यकला भी जातीय जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक संस्कारों की वाहक होती है। यही कारण है कि विश्व साहित्य में नाटक का अस्तित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रंगमंच की सौन्दर्यात्मक, नैतिक तथा ऐतिहासिक महत्ता इसीलिए है कि जातीय चरित्र तथा सामाजिक चेतना का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व उसमें प्राप्त होता है इसी कारण यूनानी आचार्य अरस्तु में काव्य को इतिहास से श्रेष्ठ घोषित करते हुए त्रासदी को सभी काव्य विधाओं में उच्चतम स्थान दिया। भारतीय पुराकथा है कि स्वयंभू मनु के साथ जब सतयुग समाप्त हो गया तथा वैवस्वत मनु के साथ त्रेतायुग आरम्भ हुआ तब लोग भोग-विलास में डूब गए। चारों ओर दुःख बढ़ गया तब इन्द्र को अपना नेता बनाकर देवता ब्रह्मा के पास प्रार्थना करने के लिए गए कि उन्हें मनोरंजन का ऐसा साधन चाहिए जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो। चारों वेद शूद्र जाति के लोग नहीं सुन सकते। ऐसे पाँचवे वेद की रचना कीजिए जो सभी वर्गों के लिए हो। अतः उन्होंने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य वेद की रचना की है। 'नाट्य शास्त्र' अथवा 'नाट्यवेद' में भरतमुनि ने इसीलिए नाटक, नृत्य और नृत की पृथक-पृथक परम्परा का

संकलन करके उसकी व्याख्या की है। उन्होंने नाटककार, सूत्रधार तथा अभिनेता को सम्बोधित किया है क्योंकि नाटक की सफलता के लिए इन तीनों का गहरा सम्बन्ध अपेक्षित है।

देवराज इन्द्र को रंगमंच का रक्षक मानने की यह प्रथा आज भी भारतीय लोकनाटकों में प्रचलित है। श्री बलवन्त गार्गी ने लिखा है— “नौटंकिये तथा रासधारिये जब एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते हैं तो उनकी गाड़ी के साथ आज भी ऊँचा झण्डा बंध होता है।”⁷

प्राकृतिक पृष्ठभूमि में नाट्याभिनय करने की परम्परा भारतीय रंगकला के इतिहास में अति प्राचीन युग में भी विद्यमान थी। पहाड़ की तलहटी में अभिनीत होने वाले यूनानी नाटकों से इसकी तुलना की जा सकती है। आधुनिक मुक्ताकाशी रंगमंच (Open Air Theater) ऐसी परम्पराओं का ही विकसित रूप है जिसमें प्राकृतिक पृष्ठभूमियों, प्राचीन खण्डहरों की पृष्ठभूमियों आदि का सौदेश्य प्रयोग कर नाट्य-प्रस्तुति को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है।

भारतीय नाट्यकला के उद्भव सम्बन्धी साहित्यिक प्रमाण सर्वप्रथम वैदिक संवाद सूक्तों में प्राप्त होते हैं। तत्कालीन जनजीवन के धार्मिक उत्सवों, संगीत समारोहों तथा नृत्योंत्सवों से नाट्यकला का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। बौद्धकाल में अभिनेताओं को ‘नट’, नाटक को ‘समाज’ तथा रंगशाला को ‘समज्ज’ कहा जाता था। यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं के लिए अभिनय प्रेक्षण निषिद्ध था तथापि उस काल में अभिनय की समृद्ध परम्परा थी तथा नाट्याभिनय इतना जनप्रिय था कि वीतराग भिक्षु भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते थे। इस कारण उनको अभिनय प्रेक्षण की पाबन्दी थी। कालिदास से पूर्व अश्वघोष जैसे बौद्ध महाभिक्षु ने — ‘सारिपुत्र प्रकरण’ नाटक की रचना की। उदयन जातक में एक अवसर पर कहा गया है कि राजा ने पुत्र के अभिषेक की वांछा की और सभी के मनोरंजनार्थ नाट्य-समारोहों का आयोजन किया।

आधुनिक अभिनय पद्धति

भारत की प्राचीन अभिनय पद्धति का लक्ष्य जीवन और जगत के कार्य व्यापारों और मनोविकारों के वास्तविक प्रतिबिम्बन के द्वारा रस निष्पत्ति रहा है। मूल स्रोत— यूरोप की आधुनिक अभिनय-पद्धति का मूल स्रोत यूनान के उस प्रथम अभिनेता में ढूँढा जा सकता है, जिसने थेस्पिस की कल्पना के अनुसार, ईसा से लगभग 550 वर्ष पूर्व किसी पात्रा की कथा के वक्ता की भूमिका छोड़कर, स्वयं उस पात्र का अभिनय नृत्य चक्र में प्रस्तुत किया। परिधान, वेश और भीमकाय मुद्रांकित मुखौटे की सहायता से प्रथम बार उसने अपने हाथ-पैर के संचालन द्वारा

मानवीय भावों की अभिव्यक्ति की। उस समय पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते थे। क्रमशः नाटकाभिनय में अभिनेताओं की संख्या बढ़ने लगी। किन्तु अभिनय कला अतिरंजित ही बनी रही। यूनानियों ने स्वर के उतार-चढ़ाव द्वारा भावाभिव्यक्ति की कला सीखी, किन्तु मुखौटे से छुटकारा न मिल सका। अभिनय यूनानी जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गया, जिसके फलस्वरूप नाटककार ओर अभिनेता को वहाँ उच्च सम्मान प्राप्त हुआ। कालान्तर में यूनानी वैभव के पतन-काल में साहित्यिक दुखांतकियों का हास हो गया, किन्तु सुखांतिका के मूल मुद्राभिनय (माइम) का प्रचार- प्रसार कई शताब्दियों तक बना रहा।⁸

इसे उपरान्त शेक्सपियर से पूर्व और शेक्सपियर के काल में अभिनय और रंगमंच में विकास हुआ इनके पश्चात् अनेक अभिनय पद्धतियाँ आई जिन्होंने अपने-अपने अनुसार अभिनय को परिभाषित किया। जिनमें गेटे के अभिनय नियम, प्राकृतिक अभिनय, स्टैनिसलावस्की का यथार्थवाद, क्रेग का व्याख्यात्मक अभिनय, मेयर होल्ड का रीतिवाद एवं अन्य पद्धतियाँ, अभिव्यंजनावाद, ब्रेस्ट की अभिनय पद्धति, अन्य अभिनय पद्धतियाँ आदि ने मिलकर (नाटक में) अभिनय और रंगमंच को महत्वपूर्ण बनाया।

इस प्रकार अनुकृति में अभिनय के चारो अंग विद्यमान हैं इसी आधार पर आचार्यों ने अनुकृति के सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसके आधार पर वाचिक, आंगिक, आह्वार्य और सात्त्विक इन चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन किया है। कभी-कभी कुछ भाव ऐसे होते हैं, जिनको वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। दुःख की पराकाष्ठा को टूटे-फूटे शब्दों द्वारा कुछ-कुछ व्यक्त किया जा सकता है, इस प्रकार के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति शारीरिक विकारों अथवा लक्षणों से ही की जा सकती है। नाटककार के भावों की व्याख्या के लिए इन शारीरिक लक्षणों या अंग-विकारों का ज्ञान पात्र के लिए आवश्यक है।⁹

आधुनिक काल में अभी तक व्यावसायिक और अर्द्ध व्यावसायिक नाट्य मण्डलियाँ पारसी रंगमंच शैली पर नाटक खेलती हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों रंग शिल्प यान्त्रिक, ब्यौरेवार और भौतिक होते चले गए। त्यों-त्यों रंगमंच में भी परिवर्तन होता गया। मुक्ताकाशी, रंगद्वार और वृत्तमंच को जोड़कर ‘बहुरूप मंच’ का निर्माण हुआ। इस मंच पर विभिन्न रंग शैलियों के नाटकों का मंचन अनेक रंग शैलियों में किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त वैगन स्टेज (शिट स्टेज) का भी प्रचलन है। इसकी विशेषता है पूरे रंगमंच को आवश्यकतानुसार इधर-उधर सरका दिया जाता।¹⁰

यथार्थवाद ने नाट्यलेखन और रंगमंच दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए। इस युग में छोटी-छोटी रंगशालाएँ निर्मित हुईं। कृत्रिमता और राजसी वृत्ति का पूर्णतः अन्त हो गया, किन्तु यथार्थता प्रदान करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्य सज्जा को भी स्थान दिया। आज आदमी के मध्य में से उभरने वाला यह मंच जानी-पहचानी वस्तु हो गया है। इस यथार्थवादी मंच पर मास्को आर्ट थियेटर के निर्देशक स्टैलिस्लावस्की ने अनेक प्रयोग किए। उन्होंने शेक्सपीयर के नाटकों को यथार्थवादी अभिनय पद्धति द्वारा प्रस्तुत कर रंगमंच को नई दिशा प्रदान की।

यथार्थवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप अभिव्यंजनावाद(1900ई०)में जन्म हुआ। अभिव्यंजनावादी यथार्थवाद की खोज आन्तरिक, अवचेतन, तात्त्विक, आध्यात्मिक और भाव जगत में करता है। इसके लिए इनके यहाँ चिन्ता, आत्मिक जिज्ञासा, संकट अवस्था और उन्माद का पर्यवेक्षण हुआ है। इन्होंने अपने नाटकों के कथानक को सरल और वस्तु परक तथा क्रिया व्यापार को सीमित करने का भी प्रयास किया है। रंगमंच को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर इन्होंने रंगकर्मी वस्तुपरक जगत से भिन्न अपने स्वतन्त्र जगत का सर्जन किया है। ब्रेरूत ने प्रारम्भ में अभिव्यंजनावादी नाटकों की ही रचना की। किन्तु बाद में सीमित दायरे से निकलकर नए अभिनय सूत्रों का प्रतिपादन किया, जिसे महाकाव्यात्मक अभिनय कहा गया है।¹¹

इसके अतिरिक्त अन्य वादों ने भी रंगमंच को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया। इनमें से प्रमुख हैं— प्रभाववाद, कल्पनावाद, प्रहसनवाद आदि। किन्तु इनमें से अधिकांश मंच समाज से कटकर व्यक्तिवादी बनकर रह गए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक और रंगमंच का पारस्परिक सम्बन्ध है। 'काव्येषु नाटक रम्यम्' कहकर नाटक को जो महत्व प्रदान किया है, वह उसके रंगमंचीय गुण को दृष्टिपथ में रखकर ही कहा गया है। रंगमंच का बुनियादी आधार अभिनय है। इस दृष्टि से नाटक की भाषागत उत्कृष्टता की कसौटी है— उसमें अभिनय की सम्भावना है जो जटिल मानवीय स्थितियों, द्वन्द्वों और अर्न्तद्वन्द्वों की आवेगमयी मार्मिकता को जितना अधिक उभार पाता है। वह नाटक उसी सीमा तक श्रेष्ठ है और उसी तक उसमें अभिनय की सम्भावनाएँ निहित होती हैं। अतः नाटक में अभिनय और रंगमंच एक सिक्के के दो पहलू हैं एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस प्रकार दोनों के पूर्ण समायोजन से हिन्दी नाटक को सफल कृति मिल सकती है। यही इनका हिन्दी जगत को सबसे बड़ा योगदान होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ० रीतारानी पालीवाल, रंगमंच नया परिदृश्य, पृष्ठ 40
2. वही, पृष्ठ 40
3. वही, पृष्ठ 42
4. वही, पृष्ठ 44
5. वही, पृष्ठ 46
6. वही, पृष्ठ 47
7. वही, पृष्ठ 107
8. डॉ० रघुवर दयाल वाष्णीय, भारतीय रंगमंच, उद्भव और विकास, पृष्ठ 76
9. वही, पृष्ठ 16
10. वही, पृष्ठ 33
11. डॉ० रीतारानी पालीवाल, रंगमंच नया परिदृश्य, पृष्ठ 179

